विषय-सूची



विद्यार्थी मोहन

गांधीजी का जीवन-प्रभात

: १ :
जन्म

गांधी-कुटुंब पहले पंसारी का धंधा करता था, पर मेरे दादा से लगाकर तीन पीढ़ियों से वह दीवान-गिरी करता आया था। मेरे दादा उत्तमचंद गांधी बड़े टेकवाले आदमी थे। उन्हें राज-दरबारी चक्करों के कारण पोरबंदर छोड़ जूनागढ़ राज्य में जाकर रहना पड़ा था।

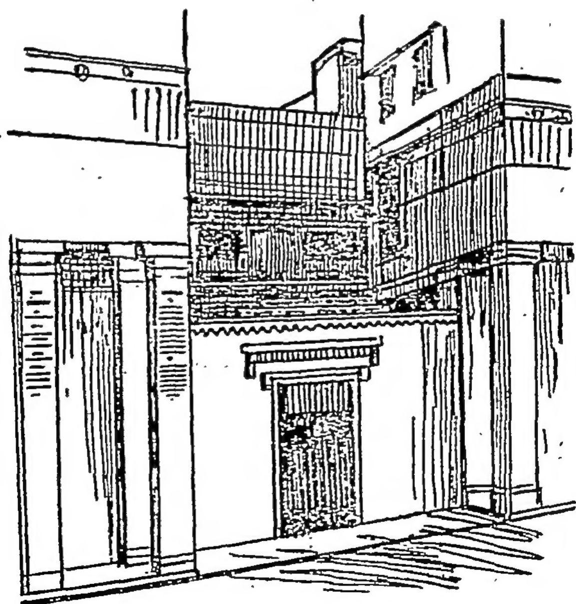
उत्तमचंद गांधी के पांचवें लड़के करमचंद गांधी उर्फ कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबंदर की दीवान-गिरी छोड़ने के बाद वह राजकोट में और फिर बांका-नेर में दीवान रहे। कबा गांधी की अंतिम पत्नी पुतली-बाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए। इनमें सबसे छोटा मैं हूं।

पिताजी कुटुंब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परंतु क्रोधी थे। वह कभी रिश्वत नहीं लेते थे। इस कारण अच्छा न्याय करते थे। उनको धन जोड़ने का लोभ न था। शिक्षा उन्होंने अनुभव से प्राप्त की थी।

कथा-पुराण सुनने से जो धर्म-ज्ञान बहुत-से हिंदुओं को सहज मिल जाता है, वह उन्हें था।

मातजी साध्वी स्त्री थीं। वह बहुत श्रद्धालु थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन नहीं करती थीं। वह व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें जानती थीं।

इन माता-पिता के यहां आश्विन बदी १२ संवत् १९२६ अर्थात् २ अक्तूबर, १८६९ को पोरबंदर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।



इस घर में गांधीजी पैदा हुए थे

: २ :
बचपन और विवाह

मेरा बचपन पोरबंदर में ही बीता। किसी पाठ-शाला में पढ़ने बैठाया गया था, पर मुश्किल से कुछ पहाड़े वहां पढ़ा होऊंगा।

पोरबंदर से पिताजी जब राजकोट गये तब मेरी उम्र सात वर्ष की होगी। पाठशाला से फिर ऊपर के स्कूल और वहां से हाईस्कूल में गया।

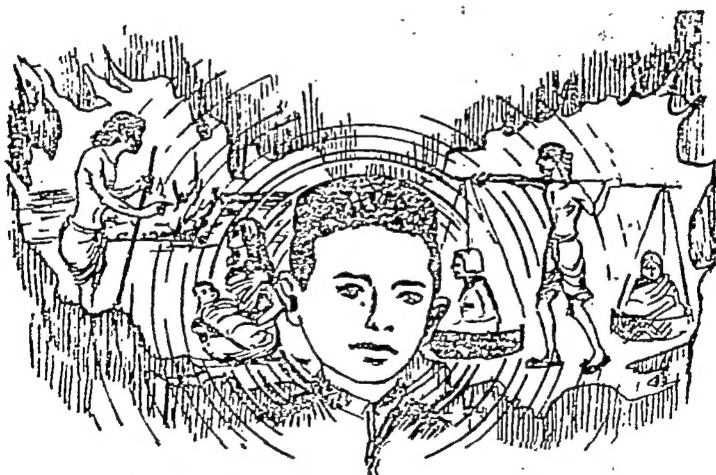
मुझे न तो यही याद है कि तबतक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो या यही कि किसी लड़के से दोस्ती जोड़ी हो। मैं बहुत झेंपू था।

हाईस्कूल से पहले ही साल की एक घटना लिखने योग्य है। इंस्पेक्टर निरीक्षण करने आये। उन्होंने लड़कों को अंग्रेज़ी के पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द Kettle (केटल) मैंने गलत लिखा। मास्टर ने मुझे इशारे से चेताया। पर मैं क्यों चेतता? यह बात किसी भी तरह मेरी समझ में नहीं आ सकती थी कि मास्टर यह चाहते हैं कि मैं अपने साथी की स्लेट से नकल कर लूं। मैं तो यह मान रहा था कि मास्टर यह देख रहे हैं कि हम दूसरे की नकल तो नहीं कर रहे हैं।

सब लड़कों के पांच शब्द सही निकले। एक मैं ही

बुद्धू साबित हुआ। बाद में मास्टर ने मेरी 'मूर्खता' मुझे बताई, पर मुझपर उसका कुछ असर न हुआ। दूसरों की नकल करना मुझे कभी न आया।

पिताजी 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाम का एक नाटक खरीद लाये थे। मैंने उसे चाव से पढ़ा। उन्हीं दिनों शीशे में तस्वीर दिखानेवाले लोग आया करते। उनमें मैंने श्रवण का, अपने अंधे माता-पिता को कांवर में बैठाकर तीर्थयात्रा को ले जानेवाला, चित्र देखा। ये दोनों चीजें मेरे मन पर अंकित होगईं। मैंने अपने दिल में कहा कि मैं भी श्रवण की तरह बनूं।



पितृभक्त श्रवण और सत्यवादी हरिश्चन्द्र के चित्र
मन पर अंकित हो गये

मैंने सत्य हरिश्चन्द्र का नाटक भी देखा। बार-बार

उसे देखने को मन हुआ करता। हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन समाई रहती कि हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों। यही बात मन में जम गई कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियां भोगना, पर सत्य को न छोड़ना ही सौ बातों की एक बात है।

यह लिखते हुए मुझे बड़ा दुःख होता है कि तेरह वर्ष की अवस्था में मेरा विवाह हुआ। हिंदू-संसार में बालक वर-वधू को मां-बाप बहुत समय एक साथ नहीं रहने देते। हम भी १३ और १८ साल की उम्र के बीच थोड़ा-थोड़ा करके तीन साल से अधिक साथ न रह सके होंगे।

मेरी पत्नी कस्तूरबाई पढ़ी-लिखी न थी। स्वभाव से सीधा, स्वतंत्र, मेहनती और कम बोलनेवाली थी। उसे पढ़ाने की मुझे बड़ी हवस थी; लेकिन मेरी अपनी कमज़ोरी उसमें बाधक थी। पर पत्नी के साथ मेरी आसक्ति के साथ-साथ मेरे दिल में कर्तव्य की भावना न होती तो मैं रोग से पीड़ित होकर मर जाता अथवा दुनिया में मेरा जीना व्यर्थ हो जाता। जिसकी निष्ठा सच्ची होती है, उसे भगवान बचा लेता है।

: ३ :
स्कूल-जीवन

विवाह का परिणाम यह हुआ कि मेरा एक साल बेकार होगया, मगर मेरा अभ्यास चलता रहा। पांचवें

और छठे दरजे में तो छात्रवृत्तियां भी मिली थीं।

अपने चाल-चलन की देख-भाल मैं बहुत सख्ती से किया करता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मेरी आंखों में आंसू भर आते। शिक्षक का उलाहना मेरे लिए असह्य हो जाता।

मैंने पुस्तकों में पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसंद आया और तभीसे मैंने टहलने की आदत डाल ली। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम ही है। इस कारण मेरा शरीर ठीक-ठीक मज़बूत होगया।

एक भूल की सज़ा मैं आज तक भुगत रहा हूं। पढ़ाई में अक्षर अच्छे होने की ज़रूरत नहीं, यह गलत खयाल मेरे मन में ठेठ विलायत जाने तक रहा। जब दूसरों के मोती-जैसे अक्षर देखे तब पछताया। मैंने देखा कि अक्षर बुरे होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। बाद में मैंने अपने अक्षर सुधारने का प्रयत्न किया, परंतु पक्के घड़े पर कहीं मिट्टी चढ़ सकती है ?

सुलेखन शिक्षा का जरूरी अंग है। उसके लिए चित्र-कला सीखनी चाहिए। बालक जब चित्रकला सीखकर चित्र बनाना जान जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जायं।

मेरे संस्कृत-शिक्षक काम लेने में बड़े सख्त थे।

फ़ारसी के शिक्षक नरम थे। विद्यार्थी आपस में बातें भी करते कि फ़ारसी बड़ी सरल है। यह सुनकर मैं ललचाया और एक दिन फ़ारसी के दरजे में बैठा। यह देखकर संस्कृत-शिक्षक ने मुझे बुलाया और कहा, "यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते? तुमको कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मैं तो सब विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूं। आगे चलकर तो उसमें तुमको रस के घूंट मिलेंगे। देखो, हिम्मत न हारो। तुम फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो।" मैं उन शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी अंतरात्मा उनका उपकार मानती है, क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू बालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिए।

: ४ :

आचरण की सावधानी

हाईस्कूल में मैं मंदबुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था, पर मेरी निजी स्मृति यह है कि मुझे अपनी होशियारी का कोई गर्व न था। इनाम या छात्रवृत्ति-पाने पर मुझे आश्चर्य होता था। लेकिन अपने चाल-चलन की मुझे बड़ी चिंता रहती थी। मेरे हाथों कोई

ऐसी बात हो या शिक्षकों को ऐसा मालूम हो कि उन्हें मुझे डांटना-डपटना पड़े तो यह मेरे लिए असह्य था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मुझे मार का दुःख नहीं था, पर मैं दंड का पात्र समझा गया, इस बात का बड़ा दुःख था। यह बात पहले या दूसरे दर्जे की है।

दूसरी बात सातवें दर्जे की है। उस समय के हेड-मास्टर विद्यार्थी-प्रिय थे। वह नियमों की पाबंदी कराते थे। बाकायदा काम करते और काम लेते थे। पढ़ाते अच्छा थे। उन्होंने ऊपर की कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कसरत, क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इन चीज़ों से अरुचि थी। अनिवार्य होने के पहले तो मैं कभी कसरत क्रिकेट या फुटबाल में गया ही नहीं था। न जाने में मेरा झेंपू स्वभाव भी एक कारण था। आज इस अरुचि में मैं अपनी गलती देखता हूं। उस समय मेरी यह गलत धारणा थी कि कसरत का शिक्षण के साथ कोई संबंध नहीं है। बाद को समझ में आया कि विद्याभ्यास में व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा के बराबर ही स्थान होना चाहिए।

व्यायाम की अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बंद होते ही तुरंत घर जाकर उनकी सेवा में लग जाता। कसरत

अनिवार्य हो जाने से इस सेवा में विघ्न पड़ने लगा। पिताजी की सेवा के लिए कसरत से माफ़ी पाने की दरख्वास्त दी, पर हेडमास्टर साहब कब माफी देने-वाले थे! एक शनिवार को स्कूल सवेरे का था। शाम को चार बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बादल थे, इससे समय का पता न चला। बादलों से धोखा खा गया। कसरत के लिए जब पहुंचा तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन जब हेडमास्टर-साहब ने हाजिरी देखी तो मैं गैरहाजिर निकला। मुझसे वजह पूछी गई। मैंने जो बात थी, बता दी। उन्होंने उसे सही नहीं माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हुआ। मैं झूठा बना। मुझे भारी दुःख हुआ। मैं झूठा नहीं हूं, यह कैसे साबित करूं? कोई उपाय न था। मैं मन मसोसकर रह गया। रोया। बाद में समझ आई कि सही बोलने और सही काम करनेवाले को गाफिल भी नहीं रहना चाहिए। इस तरह की गफलत मेरे अध्ययन-काल में यह पहली और आखिरी भी थी।

: ५ :

दुःखद प्रसंग

मेरे मंझले भाई के एक मित्र का मैंने संग किया।

उसकी सोहबत मेरी मां, बड़े भाई और पत्नी तीनों को नापसंद थी, परंतु मैंने कहा कि मैंने केवल उसे सुधारने को उसके साथ दोस्ती की है।

लेकिन मैंने देखा कि मेरी धारणा गलत थी। उस मित्र ने मुझसे कहा कि हम मांस नहीं खाते, इसलिए कमजोर हो गये हैं। अंग्रेज जो हमपर राज करते हैं, इसका कारण यह है कि वे मांस खाते हैं। उसके इस प्रकार के समझाने से मैं मानने लगा कि मांस खाना अच्छा है, उससे मैं बलवान और निडर बनूंगा और सारा देश यदि मांस खाने लगे तो हम अंग्रेजों को हरा सकते हैं। मांसाहार शुरू करने का दिन तय हुआ।

मैं माता-पिता का परम भक्त था। मैं मानता था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहार का पता लग जायगा तो वे मारे शोक के मर जायंगे। जान-अनजान में मैं सत्य का सेवक था ही। मांस खाने पर माता-पिता को धोखा देना पड़ेगा, यह मैं जानता था, पर बलवान बनने, अंग्रेजों को हराकर भारत को स्वतंत्र करने की उमंग में मैं अंधा बन गया था।

इस तरह एक साल गया होगा। इस बीच पांच-छः बार मांस खाया होगा। जब कभी ऐसे भोजनों में शरीक होता तो घर आकर खाना नहीं खाया जाता था। मां खाने को बुलातीं तो बहाना करना पड़ता कि आज

भूख नहीं, खाना पचा नहीं, वगैरा। इससे मेरे दिल को सख्त चोट पहुंचती। मैं जानता कि मैं झूठ बोल रहा हूं और वह भी अपनी मां से। फिर यदि मां-बाप जान जायं कि लड़के मांस खाने लग गये हैं तब तो उनपर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे दिल को कोंचते रहते।

इसलिए मैंने निश्चय किया कि "मांस खाना आवश्यक है, पर माता-पिता को धोखा देना मांस खाने से ज्यादा बुरा है। इसलिए माता-पिता के जीते-जी मांस नहीं खाना चाहिए।" यह निश्चय मैंने अपने मित्र को बतला दिया। उस दिन से जो मांस खाना छूटा सो हमेशा के लिए छूट गया।

इसी मित्र के संग के कारण मैं एक दूसरी बुरी आदत में फंस जाता, पर जिसको भगवान बचाना चाहता है वह गिरने की इच्छा करते हुए भी बच जाता है।

इस मित्र की बातें मानकर मैंने अपनी पत्नी को दुःख दिया। हिंदू स्त्री ही ऐसे दुःखों को सहन कर सकती है। इसलिए मैंने स्त्री को सहनशीलता की मूर्ति माना है।

इस मित्र की बुराइयों का भान मुझे बहुत बाद में हुआ। मेरी आंखें तब खुलीं जब मैंने उसमें वे दोष प्रत्यक्ष देखे, जिनसे मैं उसे मुक्त मानता था। पर अभी तो और कटु अनुभव होने बाकी थे।

: ६ :

चोरी और प्रायश्चित्त

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे बीड़ी पीने का चस्का लग गया। हम नौकरों के पैसों में से एकाध पैसा चुराकर बीड़ी खरीदने लगे। परंतु हमें इससे संतोष नहीं हुआ। बड़े-बूढ़ों की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, यह सहा नहीं गया। हमने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया, पर जहर खाने की हिम्मत न होती थी। मौत से डर गये और यह तय किया कि रामजी के मंदिर में जाकर दर्शन करके सो रहें।

इसके बाद हमारी बीड़ी पीने की और नौकरों के पैसे चुराने की टेव छूट गई। इस आदत को मैंने सदा जंगली, हानिकारक और गंदी माना है। रेल के डिब्बे में जहां बीड़ियां फूकी जाती हों, मुझसे बैठा नहीं जाता, मेरा दम घुटने लगता है।

दूसरी एक और चोरी मुझसे हुई है। उसे मैं इससे कहीं बड़ी समझता हूं। उस समय मैं पंद्रह वर्ष का था। यह चोरी थी मेरे भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की। उन्होंने कोई २५ रुपये का कर्ज कर लिया था, जिसे हम दोनों चुकाने के चक्कर में थे। कड़ा

कटवाकर कर्ज चुका दिया गया, पर मेरे लिए यह घटना असह्य होगई। इसके बाद मैंने चोरी न करने का निश्चय किया। मन में आया कि पिताजी के सामने जाकर चोरी कबूल कर लूं। अंत में मैंने चिट्ठी लिख-कर कांपते हाथ से पिताजी को दी। वह बीमार थे। चिट्ठी देकर मैं उनकी चौकी के सामने बैठ गया। उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आंखों से मोती की बूंदें टपकने लगीं। चिट्ठी भीग गई। थोड़ी देर के लिए उन्होंने आंखें मूंद लीं, चिट्ठी फाड़ डाली। चिट्ठी पढ़ने को उठ बैठे थे, सो फिर लेट गये। मैं भी रोया। पिताजी को कितना दुःख हुआ है, यह समझ सका। इन मोती की बूंदों के



चोरी का सच्चा प्रयश्चित्त

प्रेम-बाण ने मुझे वींध डाला। मैं शुद्ध हो गया। मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थ-पाठ था।

: ७ :

पिताजी की मृत्यु

पिताजी को भगंदर की बीमारी होगई थी। वह बिछौने पर ही लेटे रहते थे। उनके घाव को धोना, उसमें दवा डालना, मरहम लगाना, दवा पिलाना और जरूरत हो तब घर पर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रोज रात को उनके पैर दबाना और जब वह कहें तब अथवा उनको नींद आ जाने के बाद सोना मेरा नियम था। यह सेवा मुझे बहुत प्रिय थी।

यद्यपि मैं रात को पिताजी के पैर दबाया करता, फिर भी मन सोने के कमरे की ओर दौड़ा करता। उनकी सेवा से छुट्टी मिलती तो मुझे खुशी होती और पिताजी को प्रणाम करके मैं सीधा सोने के कमरे में चला जाता।

मौत की रात पास आई। किसीको ख्याल तक न था कि यह रात आखिरी साबित होगी। रात के ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजी ने मुझसे कहा, "तुम जाओ, अब मैं बैठूंगा।" मैं खुश हुआ और सीधा सोने के कमरे में गया। पांच ही मिनट हुए होंगे कि नौकर ने दरवाजा खटखटाया। मैं चौंका।

"उठो, बापू की तबीयत बहुत खराब है।" नौकर बोला।

"क्या बात है ?"

"बापू गुजर गये।"

मैं पिताजी के कमरे में दौड़ा गया। चाचाजी के मुंह से सुना कि बापू तो हमको छोड़कर चले गये। पिताजी को अपनी मृत्यु का संकेत मिल चुका था। उन्होंने इशारे से लिखने की सामग्री मांगी और लिखा– "तैयारी करो।" इतना लिखकर अपने हाथ पर बंधा तावीज तोड़ फेंका, सोने की कंठी पहने थे, उसे भी तोड़ फेंका और एक क्षण में प्राण-पखेरू उड़ गये।

मैं बहुत दुखी हुआ। अगर मैं अंतिम घड़ी तक उनके पैर दबाता रहता तो अंत काल का यह वियोग मेरे भाग्य में न होता।

: ८ :

धर्म की झलक

छठे-सातवें से शुरू करके सोलह साल का होने तक पढ़ा, पर पाठशाला में कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। वैष्णव संप्रदाय में जन्म होने के कारण मुझे वैष्णव मंदिर जाने का मौका अक्सर मिला करता था, पर मंदिर का वैभव मुझे न रुचा। वहां से मुझे कुछ न मिला।

मंदिर से न मिलनेवाली चीज मुझे अपनी दाई से मिली। मैं भूत-प्रेत से डरता था। मुझे उसने बताया कि इसकी दवा रामनाम है। इसलिए मैं बचपन में भूत-प्रेत के डर से बचने के लिए रामनाम का जप करता। वह अधिक दिन नहीं चला। पर बचपन में वोया बीज व्यर्थ नहीं गया। आज मेरे लिए रामनाम अमोघ शक्ति होगया है, उसका कारण रंगाबाई का वोया हुआ वह वीज ही है।

पर जिस चीज ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला वह तो था रामायण का पारायण। पिताजी रामजी के मंदिर में रोज रात को रामायण सुनते थे। कथा कहनेवाले थे बीलेश्वर के लाधा महाराज। लोग कहते थे कि उन्हें कोढ़ होगया था, परंतु उन्होंने कोई दवा नहीं की। सिर्फ महादेव पर चढ़े हुए बिल्वपत्र को कोढ़वाले अंगों पर बांधते रहे और रामनाम जपते रहे। अंत में कोढ़ जड़ से चला गया।

लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वह खुद रस में डूब जाते और सुननेवालों को भी लीन कर देते। रामायण पर आज जो मेरा अत्यंत प्रेम है, उसकी बुनियाद यह रामायण का सुनना ही है। आज मैं तुलसीदासजी की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं।

राजकोट में हर संप्रदाय के प्रति आदर-भाव

रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मंदिर जाते, शिवालय जाते व राम-मंदिर भी जाते थे। हमें भी साथ ले जाते थे।

फिर पिताजी के पास एक-न-एक जैन साधु भी आया करते। वह उनको भिक्षा भी देते। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्म की बातें सुनाया करते और पिताजी सुनते। इस तरह मेरे मन में सब धर्मों के प्रति समान भाव पैदा हुआ।

एक बात ने मेरे दिल में गहरी जड़ पकड़ ली। वह यह कि सृष्टि नीति के पाये पर खड़ी है। नीति मात्र का समावेश सत्य में होता है।

फिर एक छप्पय भी हृदय में अंकित होगया, जिसका अर्थ है :

"जो कोई हमको पानी पिलावे, उसे हम अच्छा खाना खिलावें। जो हमारे आगे सिर झुकावे, उसको हम दंडवत् प्रणाम करें। जो तांबे का पैसा दे, उसको हम सोने की मुहरें दें। जो हमारी जान बचावे, उसका दुःख मिटाने के लिए हम मरें। जिसने हमारा भला किया, उसका दसगुना भला मन-वचन-काया से करें। बुरा करनेवाले का जो भला करता है, वह विश्व-विजयी होता है।"

अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार

इकट्ठी हुई। जाति के मुखिया सेठजी मुझसे कहने लगे, "पंचों के विचार में तुम्हारा विलायत जाना ठीक नहीं है। हमने सुना है कि विलायत में धर्म-पालन नहीं हो सकता।"

मैंने कहा कि विलायत जाना कोई अधर्म नहीं है। मुझे तो वहां पढ़ाई के लिए जाना है। फिर जिन बातों का आपको भय है, उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा माताजी के सामने ले ली है।

पर सेठजी ने हुक्म सुनाया कि यह लड़का आज से जात-बाहर समझा जाय। जो इसकी मदद करेगा या इसे पहुंचाने जायगा, वह जाति का गुनहगार होगा और उससे सवा रुपया दंड लिया जायगा।

मुझपर इसका कोई असर नहीं हुआ और ४ सितंबर, १८८८ को मैंने बंबई बंदर छोड़ा।

: १० :

विलायत में

जहाज पर समुद्र-यात्रा में होनेवाला कष्ट तो ज़रा भी न हुआ, पर स्टुअर्ट (जहाज के नौकर) से बोलते झेंप लगती। अंग्रेजी में बोलने की आदत न थी। मैं सारा दिन कोठरी में ही पड़ा रहता।

किसी तरह दुःख-सुख सहते यात्रा पूरी की और

साउदेम्प्टैन (लंदन) बंदर पर पहुंचे।

मेरे पास चार सिफारिशी पत्र थे। सो मैंने डा० प्राणजीवन मेहता को साउदेम्प्टेन से तार कर दिया था। वह आये। उन्होंने प्रेमपूर्ण विनोद किया और यूरोपीय रीति-रिवाज की मेरी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। डाक्टर मेहता हंसते जाते थे और समझाते जाते थे। किसीकी चीज को छूना नहीं चाहिए, किसीसे जान-पहचान होने पर हिंदुस्तान में योंही जो सवाल किये जा सकते हैं, वैसे यहां नहीं किये जा सकते। बातें करते हुए जोर से नहीं बोला जाता। हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों से बातें करते हुए 'सर' कहने का जो रिवाज है, वह अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिक को या अपने से बड़े अधिकारी को कहता है, आदि। उन्होंने होटल के खर्चे पर आपत्ति की और कहा कि किसी निजी कुटुंब में रहना ठीक होगा।

डा० मेहता और दलपतराम शुक्ल ने वेस्ट केंसिंगटन में एक एंग्लो-इंडियन का घर खोजा और मेरा डेरा वहां लगा।

मेरे भोजन का सवाल बड़ा विकट हो पड़ा। बिना नमक-मसाले का साग भाता न था। मालकिन बेचारी मेरे लिए पकाती भी क्या? दोपहर और शाम के खाने से मैं रोज़ भूखा उठता। मित्र मांसाहार के लिए

समझाते, पर मैं टस-से-मस न हुआ। छत्तीस रोगों की एक दवा 'नन्ना' मेरे पास थी। मित्र ज्यों-ज्यों समझाते त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता बढ़ती जाती। रोज़ मैं भगवान से रक्षा की याचना करता और वह पूरी होती। मेरी पढ़ाई शुरू नहीं हुई थी। मुश्किल से अखवार पढ़ने लगा।

मैंने घूमना शुरू किया। मुझे निरामिष अर्थात् शाकाहारी भोजनालय की तलाश थी। मैं रोज़ १०-१२ मील का चक्कर लगाता। इस तरह भटकते हुए एक दिन मैं फेरिंग्टन स्ट्रीट पहुंचा और वहां वेजीटेरियन रेस्ट्रां (निरामिष भोजनालय) नाम पढ़ा। खुशी से उछलकर मैं अंदर पहुंचा भी नहीं कि दरवाज़े के पास कांच की खिड़की में बिकने के लिए रखी हुई पुस्तकें देखीं। साल्ट की लिखी 'अन्नाहार की हिमायत' नाम की पुस्तक एक शिलिंग देकर खरीदी और फिर भोजन करने बैठा। विलायत में आने के बाद यही पहला दिन था जब मैंने पेटभर खाना खाया। ईश्वर ने मेरी भूख बुझा दी।

मैंने निश्चय किया कि मैं सभ्यों के लक्षण प्राप्त करूंगा। मैंने 'सभ्यता' सीखने का अपनी सामर्थ्य से बाहर का और छिछला रास्ता पकड़ा।

उच्च अंग्रेजी समाज में फबने के ख्याल से आमी

ग्रौर नेवी स्टोर में कपड़े वनवाये। दस पौंड का शाम को पहनने का सूट वनवाया। दोनों जेवों में लटकाई जानेवाली ग्रसली सोने की चेन मंगवाई। टाई वांधने की कला सीखी। वड़े शीशे के सामने खड़े होकर टाई वांधने, वालों की ठीक पटियां पाड़ने ग्रौर मांग काढ़ने में रोज दस मिनट नष्ट होते थे।



विलायत में विलायती पोशाक में

पर इतनी टीमटाम काफी नहीं थी। खाली पोशाक से थोड़े ही सभ्य वना जा सकता है! सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिए। सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण

देना आना चाहिए। फ्रेंच अच्छी आनी चाहिए। अतः नाचना सीखने का निश्चय किया। वायलिन बजाना सीख लूं तो ताल-सुर का पता चलेगा। भाषण-कला सीखने को तीसरे उस्ताद का घर खोजा। 'बेल' का लिखा 'स्टैंडर्ड एलोक्यूशनिस्ट' खरीदा। पिट का भाषण शुरू किया।

इन्हीं 'बेल' साहब ने मेरे कान में घंटी (बेल) बजाई। "मुझे कहां इंग्लैंड में ज़िन्दगी बितानी है? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूंगा? मैं तो विद्यार्थी हूं। मुझे तो विद्या-धन जोड़ना चाहिए। मैं अपने सदाचार से सभ्य समझा जा सकूं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिए।"

सभ्य बनने की मेरी सनक कोई तीन महीने चली होगी। पोशाक की टीमटाम बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया।

इस मोह-काल में भी मैं सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता था। सोने से पहले सदा अपनी रोकड़ मिला लेता था।

मैंने अपना खर्च आधा कर डालने का तय किया। अबतक कुटुंबों में रहता था। उसके बदले अपना कमरा लेकर रहने का निश्चय किया। अनुभव के लिए अलग-अलग मुहल्लों में घर बदलने का तय किया।

घर ऐसी जगह पसंद किया, जहां से काम के स्थान पर आधे घंटे में पैदल चलकर पहुंचा जा सके और गाड़ी-भाड़े के पैसे बच जायं।

यों खर्च आधा बचा। पर समय ? मुझे मालूम था कि बैरिस्टरी के लिए ज्यादा पढ़ने की जरूरत नहीं होती। इससे मन में धीरज था, पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे खलती थी। एक मित्र ने कहा कि लंदन की मैट्रिक परीक्षा पास कर लो। उसमें मेहनत अच्छी करनी होगी और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। सो मैं खानगी तौर पर चलनेवाले एक मैट्रिक के क्लास में भरती हो गया।

परीक्षा की तैयारी के साथ रहन-सहन में और अधिक सादगी लाने की कोशिश शुरू की। एक अंगीठी खरीदी और एक समय का खाना हाथ से पकाने लगा। दो कमरे छोड़े और आठ शिलिंग प्रति सप्ताह पर एक कमरा लिया। इस प्रकार जीवन सादा हो जाने से समय अधिक बचा। कौटुंबिक स्थिति के साथ मेरे रहन-सहन का मेल हो गया। मेरे आत्मिक आनन्द की सीमा न रही।

भोजन-संबंधी 'साल्ट' की पुस्तक पढ़ी। मुझपर उसका अच्छा असर पड़ा। इस पुस्तक के पढ़ने के बाद मैं स्वेच्छा से अन्नाहार का कायल हुआ। अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरों को भी वैसा बनाने का लोभ

उत्पन्न हुआ। मसल मशहूर है कि 'नया मुल्ला जोर से बांग देता है।' इसलिए जिस मुहल्ले में मैं उस समय रहता था, उसमें 'अन्नाहारी मंडल' स्थापित करने का विचार किया। उस मुहल्ले में सर एडविन आरनाल्ड रहते थे। वह उपाध्यक्ष हुए। डा० ओल्डफील्ड अध्यक्ष बने और मैं मंत्री। इससे मुझे संस्थाओं की रचना और उनके संचालन का कुछ अनुभव मिला।

पहले विलायत जानेवालों की संख्या अबसे कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड़ गया था कि वे विवाहित होते हुए भी अपनेको अविवाहित बताते। विवाह की बात छिपाने का एक कारण यह था कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुंबों में वे रहते हैं, उनकी जवान लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करने की स्वतंत्रता नहीं मिल पावेगी। इस जाल में मैं भी फंस गया। इस बनावटी कुंवारेपन का स्वाद मैं थोड़ा ही चख पाया। मेरे झेंपूपन ने और मौन ने मुझे बहुत बचाया। जब मैं बात ही नहीं कर सकता था तो कोई लड़की मुझसे क्यों बोलती?

पर हर जगह मैं कैसे बच सकता था? असत्य का ज़हर मेरे अंदर से ईश्वर निकालना चाहता था। ब्राइटन के होटल में एक बुढ़िया से मेरा परिचय हुआ। वह लंदन में हर रविवार को अपने यहां भोजन के

लिए निमंत्रण देती। मेरी शरम तुड़वाती। युवतियों में जान-पहचान करवाती और उनके साथ बातें करने के लिए ललचाती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती। पहले मुझे यह सब अखरा, पर वृद्धा मुझे पक्का करती रही। मैं गढ़ा जाने लगा।

अब मैं क्या करूं ? मैंने सोचा कि अपने व्याह का बात बता दी होती तो कितना अच्छा था ! अब भी क्या बिगड़ा है ? मैं सच कह दूं तो सारे संकटों से बच सकता हूं। यह तय करके मैंने उसे पत्र लिखा कि अपने विवाह की बात अबतक छिपा रखी, इसका मुझे बड़ा दुःख है। जिस बहन से आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है। आपकी ममता के लिए मैं आपका ऋणी हो चुका हूं। यदि आप अब भी मुझे अपने यहां आने योग्य समझेंगी तो इसे मैं आपके प्रेम का नया चिह्न समझूंगा और उसके योग्य बनने का प्रयत्न करूंगा।

पत्र भेजने के बाद मेरे दिल का बोझ उतर गया। उन महिला का जवाब मिला :

"यह अच्छा किया, जो तुमने सच्ची बातें लिख दीं। मेरा निमंत्रण कायम है। विश्वास रखो, हमारी मित्रता में फर्क नहीं आवेगा।"

: ११ :

बैरिस्टर हुए

बैरिस्टर होने के लिए दो बातों की जरूरत थी। एक तो 'टर्म' पूरा करना यानी सत्रों में उपस्थिति, दूसरी कानून की परीक्षा देना। सत्रों में उपस्थिति के मानी हैं दावतें खाना। खाने में अच्छी-अच्छी चीजें होती हैं, पीने के लिए बढ़िया मानी जानेवाली शराब। उसके दाम अलबत्ता चुकाने होते। खाने के खर्च से शराब पीनेवालों का पीने का खर्च ज्यादा बैठता। शराब पीने के पीछे लोग कैसे इतने पैसे बरबाद कर देते होंगे, यह समझ न पाता था। दावतों में मैं पहले कुछ भी नहीं खाया करता था, क्योंकि मेरे लायक तो वहां सिर्फ रोटी व उबले आलू और गोभी ही होती थी। शुरू में तो न रुचने के कारण नहीं खाया, पर बाद में जब उनमें स्वाद देखा तब तो और भी चीजें मांग लेने की शक्ति मुझमें आ गई थी।

इस खानपान से बैरिस्टरी की योग्यता में क्या वृद्धि हो सकती है, यह न उस समय मेरी समझ में आया, न बाद में ही।

कानून की पढ़ाई आसान थी। बैरिस्टरों को

मजाक में 'दावत का वैरिस्टर' कहा जाता था।

परीक्षा पास करके १८९१ की १०वीं जून को मैं वैरिस्टर बन गया। ११ तारीख को इंग्लैंड के हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम दर्ज कराया, १२ जून को हिंदुस्तान वापस लौटा।

पर मेरी निराशा और भय का अंत न था। मैंने देखा कि कानून तो मैंने जरूर पढ़ लिया था, पर ऐसी एक भी बात नहीं सीखी, जिससे वकालत करना आये। वैरिस्टर कहलाना आसान लगा, पर वैरिस्टरी करना कठिन। अपनी कठिनाइयां एक-दो मित्रों के सामने रक्खीं। उन्होंने दादाभाई नौरोजी से मिलने की सलाह दी, पर दादाभाई के सामने अपनी कठिनाइयां रखने की हिम्मत न हुई।

उन्हीं मित्र ने या किसी और ने मि० फ्रेडरिक पिंकट से मिलने की सलाह दी। मि० पिंकट कंजर्वेटिव दल के थे, पर हिन्दुस्तान के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। पत्र लिखकर उनसे मिलने का समय मांगा। समय मिला। मैं उनसे मिलने गया। वह मुझसे मित्र की भांति मिले। मेरी निराशा को तो उन्होंने हँसकर उड़ा दिया। बोले, "तुम समझते हो कि सबका फीरोजशाह मेहता होना जरूरी है? फीरोजशाह या बदरुद्दीन तो एक-दो ही हुआ करते हैं।

तुम निश्चय समझो कि साधारण वकील होने के लिए ज्यादा होशियारी की ज़रूरत नहीं होती। साधारण ईमानदारी और लगन के बल पर आदमी वकालत का धंधा मज़े में चला सकता है। सब मुकदमे पेचीदा नहीं होते।"

मैंने उन वयोवृद्ध मित्र का बड़ा अहसान माना। उनके सामने तो भय क्षण-भर को चला गया, पर बाहर निकलते ही वही घबराहट सवार हो गई।

यों निराशा में तनिक-सी आशा का आश्वासन लेकर कांपते पैरों आसाम स्टीमर से बंबई बंदर में उतरा।

माताजी के दर्शनों के लिए मैं अधीर हो रहा था, पर उनके स्वर्गवास के बारे में मुझे कुछ पता न था। घर पहुंचने पर मुझे इसकी सूचना दी गई और स्नान कराया गया। मुझे यह खबर विलायत में भी दी जा सकती थी, पर आघात हल्का हो, इस विचार से बंबई पहुंचने तक बड़े भाई ने मुझे यह सूचना न देने का निश्चय कर रक्खा था। पिताजी की मृत्यु से मुझे जो चोट पहुंची थी, उससे अधिक इस मृत्यु के समाचार से पहुंची। मेरे बहुत-से मनोरथ धूल में मिल गये। पर इस निधन-समाचार को सुनकर मैं फूटकर नहीं रोया। आंसुओं को पी-सा गया और इस तरह काम-

काज करने लगा, मानो माताजी की मृत्यु हुई हो न हो।

: १२ :

वकालत शुरू की

बड़े भाई ने मुझपर बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। उनको पैसे का, नाम का और पद का लोभ बहुत अधिक था। उनका दिल बादशाही था। उदारता उड़ाऊपन की हद तक पहुंच जाती थी। इससे और अपनी सरलता की वजह से उन्हें दोस्त बनाते देर नहीं लगती थी। उन्होंने मान लिया था कि मैं खूब कमाऊंगा। इससे घर का खर्च बढ़ा लिया था। मेरे लिए वकालत का मैदान तैयार करने में उन्होंने अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खा था।

जाति का झगड़ा खड़ा ही था। दो दल होगये थे। एक ने मुझे तुरंत बिरादरी में मिला लिया। दूसरा न लेने पर अड़ा रहा। बिरादरी में मिलानेवाले दल के संतोष के लिए राजकोट ले जाने से पहले भाई मुझे नासिक ले गये। वहां गंगा-स्नान कराया और राजकोट पहुंचकर जाति-भोज किया। मुझे इस काम में कोई रस न आया। बड़े भाई का मेरे प्रति प्रेम था और मेरा विश्वास है कि मेरी भक्ति भी उनके प्रति वैसी

ही थी। इसलिए उनकी इच्छा को आज्ञा रूप मानकर मैं बिना समझे उसका अनुकरण करता रहा। विरादरी का मामला इतने से हल होगया।

पत्नी से मेरा संबंध अब भी जैसा मैं चाहता था वैसा न हुआ। अपना ईर्ष्यालु और शक्की स्वभाव विलायत जाकर भी मैं न छोड़ सका। इससे मैं अपने मन की पूरी न कर सका। पत्नी को अक्षर-ज्ञान अवश्य होना चाहिए और वह मुझे ही कराना है, यह मैंने सोच रखा था, पर मेरे मोह ने यह काम न करने दिया। अपनी कमजोरी का गुस्सा मैंने पत्नी पर उतारा। मैंने उसे मायके भेज दिया और बड़े कष्ट देने के वाद फिर साथ रहने देना मंजूर किया। पीछे समझ में आया कि इसमें सिर्फ मेरी नादानी के सिवा कुछ नहीं था।

बच्चों की शिक्षा के संबंध में भी मुझे सुधार करने थे। बड़े भाई के लड़के थे। मैं भी एक लड़का छोड़ गया था। वह अब चार साल का हो रहा था। इन वच्चों को कसरत कराने, उन्हें वलवान वनाने और अपने साथ रखने का विचार था। इस काम में भाई की सहानुभूति थी। वच्चों का साथ मुझे प्रिय लगा। बच्चों के साथ मजाक की आदत तो आजतक वनी हुई है। तभी से मेरा ख्याल है कि मैं वच्चों के शिक्षक

का काम अच्छा कर सकता हूं।

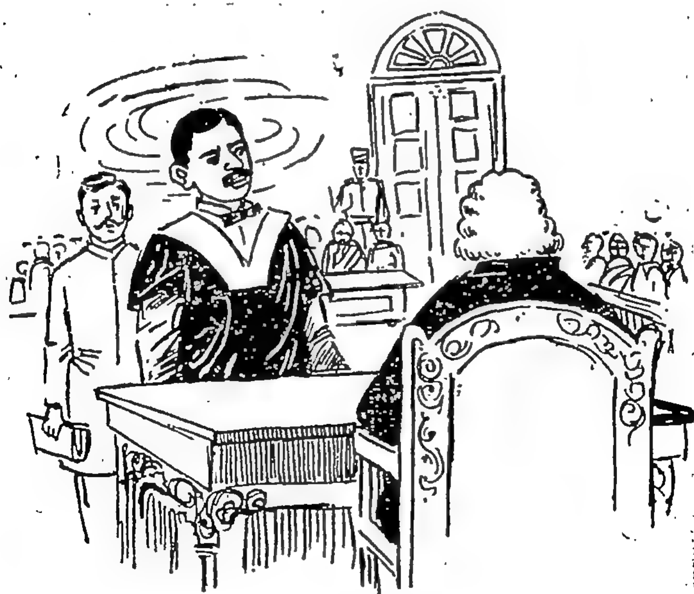
खानपान में भी सुधार करने की जरूरत तो थी ही। घर में चाय-कहवे को स्थान मिल चुका था। बड़े भाई ने सोचा कि भाई के विलायत से घर आने के पहले विलायत की हवा तो घर में पहुंच ही जानी चाहिए। इसलिए चीनी मिट्टी के वर्तन, चाय, आदि चीजें, जो पहले घर में दवा के तौरपर या 'सभ्य' मेहमानों के लिए रहती थीं, अब सबके लिए काम में आने लगीं। इस वातावरण में मैं अपने 'सुधार' लाया। जई की लपसी घर में दाखिल हुई। चाय-कहवा के बदले कोको। पर परिवर्तन तो नाम का ही था। चाय-कहवे के साथ कोको और भी बढ़ गया। बूट और मोजे तो पहुंच ही चुके थे। मैंने कोट-पतलून से घर को पवित्र किया।

इस प्रकार खर्च बढ़ा। नवीनता में बढ़ोतरी हुई। घर पर सफेद हाथी बंध गया। पर खर्च आये कहां से? राजकोट में तुरंत वकालत शुरू करना तो हंसी ही कराना था। ज्ञान की पूंजी तो मेरे पास इतनी भी नहीं थी कि राजकोट में पास हुए वकील के मुकाबले खड़ा हो सकूं और फ़ीस उससे दुगनी लेने का दावा! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे रखता?

मित्रों की राय हुई कि मुझे कुछ समय के लिए

बंबई जाकर हाईकोर्ट की वकालत का अनुभव प्राप्त करना तथा हिंदुस्तान के कानूनों का अध्ययन करना चाहिए और कोई मुकदमा मिले तो पाने की कोशिश करनी चाहिए।

इसलिए बंबई में घर बसाया। रसोइया रक्खा। वह भी मुझ जैसा ही मिला। मैं समझ गया कि मुझे उसका शिक्षक बनना होगा। मैं जात-पांत नहीं मानता था। रसोइये को भी उसका आग्रह नहीं था। हमारी ठीक बैठ गई। पकाने का आधा काम वह करता,



गांधीजी : वकील के रूप में

आधा मैं ।

पर मेरा बंबई में चार-पांच महीने से अधिक रहना मुमकिन ही न था, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी ।

इस प्रकार मैंने संसार में प्रवेश किया। बैरिस्टरी मुझे खलने लगी । दिखावा बहुत, आमदनी थोड़ी ।

: १३ :

पहला मुकदमा

बंबई में एक ओर कानून का अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजन के प्रयोग । कानून की पढ़ाई ठीक चली । बाहर बैरिस्टर की तख्ती लगी रहती और घर में बैरिस्टरी करने की तैयारी करता । मेरा मन इन दोनों का मेल न बैठा पाता ।

इतने में ममीबाई का मामला मुझे मिला। दलाल को कमीशन देने की बात आई । मैंने साफ इंकार कर दिया । दलाली नहीं दी । मुकदमा आसान था। मुझे मेहनताने में ३०) मिले । अदालत में जाने का मेरा वह पहला ही मौका था। मैं मुद्दालेह की तरफ से था। मुझे जिरह करनी थी । मैं खड़ा तो हुआ, लेकिन पैर कांप रहे थे, सिर चकरा रहा था । जान पड़ता था

कि कचहरी घूम रही है। सवाल सूझते ही न थे। जज हंसा होगा। वकीलों को तो मजा आया ही होगा। पर मेरी आंखें क्या कुछ देख पाती थीं ?

मैं बैठ गया। दलाल से बोला, "मुझसे यह मुकदमा न चल सकेगा। पटेल को कर लीजिये। मुझे दिया हुआ मेहनताना वापस ले लीजिये।"

मैं भागा। मुवक्किल जीता या हारा, इसकी मुझे याद नहीं। शरमाया और निश्चय किया कि जबतक पूरी हिम्मत नहीं आजाती तबतक कोई मामला न लूंगा और फिर दक्षिण अफ्रीका जाने तक कचहरी नहीं गया।

पर एक मामला बंबई में और मिलनेवाला था। इस मुकदमे में अर्जी-दावा बनाना था। एक गरीब मुसलमान की ज़मीन पोरबंदर में जब्त हुई थी। पिताजी का नाम जानकर उनके बैरिस्टर बेटे के पास वह आया था। मुझे उसके मामले में दम न जान पड़ा। फिर भी मैंने अर्जी-दावा लिख देना स्वीकार कर लिया। मैंने वह लिखा और मित्रों को दिखाया। वह पास हुआ। मन को कुछ विश्वास हुआ कि मैं अर्जीदावे लिखने लायक तो हो सकता हूं, और था भी।

मेरा काम बढ़ता गया। मुफ्त में अर्जियां लिखने

का धंधा करने से अर्जियां लिखानेवालों की कमी तो न पड़ती, पर उससे रोटी-दाल का ठिकाना तो न होता था।

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो ज़रूर कर सकता हूं। मैंने पत्र में विज्ञापन पढ़ा—"आवश्यकता है एक अंग्रेजी शिक्षक की। रोज एक घंटे के लिए। वेतन ७५)।" मैंने दरख्वास्त दी। रूबरू मिलने की सूचना आई। मैं बड़ी आशाएं लेकर गया। पर प्रिंसिपल को जब मालूम हुआ कि मैं बी० ए० नहीं हूं तो खेद के साथ मुझे लौटा दिया।

"पर मैंने लंदन की मेट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है। लेटिन मेरी दूसरी ज़बान थी।"

"यह सब ठीक है। पर हमें तो ग्रेजुएट ही चाहिए।"

मैं लाचार हो गया। हिम्मत छूट गई। भाई-साहब भी चिंतित हुए। हम दोनों ने सोचा कि बंबई में अधिक समय बिताना बेकार है। मुझे राजकोट में ही जमना चाहिए। भाई खुद छोटे वकील थे। मुझे अर्जी-दावे का कुछ काम तो दे ही सकते थे। फिर राजकोट में घर का खर्च ही है। बंबई का खर्च निकाल देने से बड़ी बचत हो जाती है। सलाह मुझे जंच गई। इस प्रकार कुल पांच-छः महीने बंबई में

रहकर राजकोट लौटा। अलग दफ्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जी-दावे लिखने का समय मिलने लगा और महीने में मोटे हिसाब से ३००) की आमदनी होने लगी।

बंबई में दलाली न देने की जो टेक थी वह यहां टूट गई। बंबई में दलाल को देना था, यहां वकील को देना है। यह भेद मुझे समझाया गया। भाईसाहब की दलीलों का जवाब मेरे पास न था। मैंने देखा कि अगर मुझे बैरिस्टरी करनी है तो ऐसे मामलों में कमीशन न देने का आग्रह छोड़ देना होगा। मैं पिघला। अपने मन को मनाया या साफ शब्दों में कहूं तो धोखा दिया।

: १४ :

पहली ठेस

मेरी आर्थिक गाड़ी तो चल निकली, पर इस बीच मुझे अपने जीवन की पहली ठेस लगी। अंग्रेज हाकिम क्या होते हैं, यह कान से तो सुना करता था, पर आंखों देखने का मौका अब मिला।

पोरबंदर के भूतपूर्व राणासाहब को गद्दी मिलने के पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उस बीच राणासाहब को गलत सलाह देने की तोह

मत उनपर लगाई गई। उस समय के पोलीटिकल एजेंट से इसकी शिकायत होने के कारण भाईसाहब के बारे में उनका खयाल खराब हो रहा था। इस अफसर से मैं विलायत में मिला था। भाई ने सोचा कि इस परिचय का लाभ उठाकर मैं पोलीटिकल एजेंट से दो शब्द कहूं और उनपर जो खराब असर पड़ा है उसे मिटाने की कोशिश करूं। यह बात मुझे तनिक भी न रुची। विलायत के तुच्छ परिचय का फायदा मुझे नहीं उठाना चाहिए। यदि भाईसाहब ने कोई ख़राब काम किया हो तो सिफारिश से फायदा? यदि न किया हो तो बाक़ायदा दरख्वास्त दें या अपनी निर्दोषता पर भरोसा रखकर निःशंक रहें। पर यह दलील भाई के गले न उतरी।

"तुम काठियावाड़ को जानते नहीं। अभी तुमने दुनिया को समझा नहीं है। यहां तो ज़ोर-ज़रिये से काम चलता है। तुम्हारे-जैसा भाई अपने मुलाकाती हाकिम से ज़रा-सी सिफारिश करने का मौका आने पर सटक जाय तो यह उचित नहीं कहा जा सकता।"

भाई की बात मैं टाल न सका। अपनी इच्छा के विरुद्ध मैं गया। जाने में मेरा स्वाभिमान भंग होता था, इसका मुझे ख्याल था। फिर भी मैंने मिलने का समय मांगा। वह मिला। मैं मिलने गया। मैंने पुराने

परिचय की याद दिलाई। पर मैंने तुरंत देखा कि विलायत और काठियावाड़ में अंतर है। अपनी कुर्सी पर विराजते हुए अफसर और छुट्टी पर गये हुए अफसर में भी भेद है। साहब ने परिचय स्वीकार किया, पर इस स्वीकृति के साथ वह और तन गया। यह मैंने उसकी अकड़ से देखा और नज़र में पढ़ा, मानो वह कह रही थी कि "इस परिचय का लाभ उठाने तो तुम नहीं आये हो न ?" यह समझते हुए भी मैंने अपनी कहानी शुरू की। साहब का धीरज ख़त्म हुआ।

"तुम्हारे भाई खटपटिये हैं। तुमसे मैं ज्यादा बात सुनना नहीं चाहता। मेरे पास समय नहीं है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो बाक़ायदा दरख्वास्त दें।"

यह जवाब काफी था, ठीक था; पर गरज़ तो बावली होती है। मैं अपनी कहानी कहे जा रहा था। साहब उठे।

"अब तुम्हें जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए।"

साहब बहुत खीज गया, "चपरासी, इसको दरवाजा बताओ।"

"हुज़ूर !" कहकर चपरासी दौड़ा आया। मैं तो अब भी बड़बड़ा ही रहा था। चपरासी ने मुझे हाथ लगाया और दरवाजे के बाहर कर दिया।



चपरासी ने दरवाजे से बाहर कर दिया

साहब चले गये। चपरासी भी गया। मैं घर चला, अकुलाया, खीजा। मैंने एक खत घसीटा। "आपने मेरा अपमान किया है। चपरासी के जरिये मुझपर हमला किया है। आप माफी न मांगेंगे तो बाकायदा आप पर मान-हानि की नालिश करूंगा।"

यह चिट्ठी मैंने भेजी। थोड़ी देर में साहब का सवार जवाब दे गया। आशय यह था :

"तुम मेरे साथ असभ्यता से पेश आये, जाने के के लिए कहने पर भी तुम न गये, इससे मैंने जरूर अपने चपरासी को तुम्हें दरवाजा दिखाने को कहा। चपरासी

के कहने पर भी तुम दफ्तर से बाहर न गये। तब उसने तुम्हें दफ्तर से बाहर जाने के लिए जरूरत जितना बल-प्रयोग किया। तुम्हें जो करना हो वह करने को तुम आजाद हो।"

यह जवाब जेब में डाले और मुंह लटकाये मैं घर आया। भाई को सारा हाल सुनाया। वह दुखी हुए। पर वह मुझे क्या सांत्वना देते? वकील मित्रों से चर्चा की। मुझे मामला दायर करना कहां आता था?

उन दिनों सर फिरोजशाह मेहता किसी मुकदमे के सिलसिले में राजकोट आये हुए थे। उनसे मुझ-जैसा नया बैरिस्टर कैसे मिल सकता था? पर उन्हें जिस वकील ने बुलाया था, उसकी मार्फत पत्र भेजकर सलाह पुछवाई।

"गांधी से कहो, ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरों को हुए होंगे। तुम अभी नए-नए हो। अभी विलायत की हवा तुम्हारे दिमाग में भरी है। तुम अंग्रेज़ों को पहचानते नहीं। तुम्हें चैन से बैठना हो और दो पैसे कमाने हों तो उस जवाब को फाड़ फेंको और जो अपमान हुआ है, उसे पी जाओ। मामला चलाने से फूटी कौड़ी भी न मिलेगी, उल्टे तुम हैरान और बरबाद होगे। जीवन का अनुभव तुम्हें होना बाकी है।"

मुझे यह सीख कड़वी ज़हर लगी, पर उस कड़वी

घूंट को गले उतारने के सिवा कोई चारा न था।

"ऐसी स्थिति में फिर कभी न पड़ूंगा, किसीकी सिफारिश इस तरह न करूंगा।" इस नियम का फिर कभी भंग नहीं किया। इस ठेस ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

: १५ :

दक्षिण अफ्रीका में

मेरा अधिक काम उसी अधिकारी की कचहरी में रहता था। खुशामद मुझसे होने ही वाली न थी। उस अधिकारी को अयोग्य रीति से रिझाना मुझे मंजूर न था। वकालत के काम में साहब के साथ का झगड़ा बाधक होता था।

इसी बीच काठियावाड़ के दरबारी दाव-पेचों का भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। यह वातावरण मुझे विष-सा लगा। अपनी स्वतंत्रता कैसे बचा सकूंगा, यह चिंता मन में बनी रही। मैं उदासीन होगया। भाई ने मेरी उदासीनता देखी। उन्होंने सोचा कि मैं कहीं नौकरी कर लूं तो इन कुचक्रों से मुक्ति मिले। पर जोड़-तोड़ के बिना दीवान और न्यायाधीश का पद भी कहां मिल सकता था।

इसी बीच भाईसाहब के पास पोरबंदर की एक

मेमन फर्म का संदेशा आया :

"हमारा व्यापार दक्षिण अफ्रीका में है। हमारा फर्म बड़ा है। हमारा मामला चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंड का है। मामला बहुत दिनों से चलता है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर हैं। अगर आप अपने भाई को भेज दें तो वह हमें मदद करेंगे और उन्हें भी कुछ मदद मिल जायगी। वह हमारा मामला हमारे वकील को अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा नया देश देखेंगे और बहुत-से नये आदमियों से परिचय का लाभ भी होगा।"

भाई ने मुझसे जिक्र किया। मैं ललचाया। भाई ने दादा अब्दुल्ला के साझीदार सेठ अब्दुलकरीम से भेंट कराई। यदि मैं सालभर काम कर दूं तो आने-जाने का पहले दरजे का किराया और भोजन-खर्च के अलावा १०५ पौंड देने का वादा किया। यह कोई वकालत नहीं कही जा सकती। यह तो नौकरी थी। पर मुझे तो जैसे-तैसे हिंदुस्तान छोड़ना था। मैं राजी होगया और अप्रैल १८९३ में हिंदुस्तान से अफ्रीका जाने के लिए रवाना होगया।

नेटाल बंदर पर मुझे लिवाने दादा अब्दुल्ला स्वयं आये। जो लोग जहाज पर अपने मित्रों को लिवाने आये थे, उनके रंग-ढंग से मैं समझ गया कि यहां

हिंदुस्तानियों का आदर नहीं है। अब्दुल्ला सेठ की जान-पहचान के लोग उनके साथ जैसा वर्ताव करते थे, उसमें एक प्रकार का हलकापन था। मेरे दिल को उससे चोट पहुंची, पर सेठ तो उस अपमान के आदी होगये थे।

घर पहुंचा। अब्दुल्ला सेठ के पास का कमरा मुझे दिया गया। सेठ ने अपने भाई की चिट्ठी पढ़ी। उन्होंने समझ लिया कि भाई ने वह सफेद हाथी घर बंधवा दिया है, क्योंकि मेरे लिए उनके पास कोई काम तो था नहीं और मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हें खर्चीला मालूम हुआ। फिर मुकदमा चल रहा था ट्रांसवाल में। वहां भेजकर क्या करते? मेरी योग्यता और ईमानदारी का कहांतक भरोसा किया जाय? प्रतिवादी प्रिटोरिया में रहते थे। कहीं उनका असर मुझपर होने लगा तो? दूसरे उनके कर्मचारी मुझसे अच्छा काम करते थे। फिर कर्मचारी से भूल-चूक हो जाय तो उनको कुछ कहा-सुना भी जा सकता है। मुझसे कहने से रहे। काम वहां या तो मुकदमे का था या क्लर्की का।

अब्दुल्ला सेठ पढ़े-लिखे कम थे, पर अनुभव-ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अंग्रेजी का इतना मुहावरा था कि अपना काम चला देते थे। हिंदुस्तानियों में उनका

काफी मान था।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन की अदालत दिखाने ले गये। कचहरी में अपने वकील के पास मुझे बैठाया। मैं फ्राककोट और सिर पर बंगाली पगड़ी पहने हुए था। मजिस्ट्रेट बराबर मेरी ओर ताक रहा था। उसने मुझसे पगड़ी उतार देने को कहा। मैंने इंकार किया और कचहरी से निकल आया। अब्दुल्ला सेठ ने समझाया कि हिंदुस्तानियों को अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए। मुसलमानी पहनावा पहनने-वाले अपनी पगड़ी पहने रह सकते हैं। ऐसी हालत में मेरा पगड़ी पहनने का सवाल बेढब हो गया। मैंने पगड़ीवाली घटना पर अखबारों में लिखा और पगड़ी का तथा अपने पक्ष का समर्थन किया। 'अनिमंत्रित अतिथि' के नाम से मेरा नाम अखबारों में आया और तीन-चार दिन में ही दक्षिण अफ्रीका में मेरा नाम फैल गया।

यहां गरीब हिंदुस्तानी पांच बरस का इकरार कर मजदूरी के लिए आते थे। यह इकरार 'एग्रीमेंट' कहलाता था। यह एग्रीमेंट बिगड़कर 'गिरमिट' होगया और हिंदुस्तानी गिरमिटिया होगये। इन गिरमिटियों को अंग्रेज़ कुली कहते थे, हिंदुस्तानी व्यापारी कुली-व्यापारी कहलाते थे। इसीलिए मुझे 'कुली-बैरिस्टर' का

खिताब मिला।

मुकदमे के लिए मेरा प्रिटोरिया जाना जरूरी हो गया। मैं डरबन से रवाना हुआ। पहले दरजे का टिकिट लिया। रात के नौ बजे ट्रेन नेटाल की राजधानी मेरित्सबर्ग पहुंची। मेरे डिब्बे में एक यात्री आया। मुझे हिंदुस्तानी देखकर वह चकराया। एक-दो कर्मचारियों को लेकर वह आया। एक अफसर ने कहा, "उतरो, तुमको दूसरे डिब्बे में जाना होगा।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दर्जे का टिकट है।"

"कोई बात नहीं। मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हें आखिरी डिब्बे में बैठना होगा।" अफसर बोला।

"मैं डरबन से इसी डिब्बे में बैठाया गया हूं और इसीमें जाना चाहता हूं।" मैंने कहा।

"यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना होगा, नहीं तो सिपाही आकर उतार देगा।" अफसर बोला।

"तो ठीक है। सिपाही आकर भले ही उतार दे, मैं अपने-आप न उतरूंगा।"

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का देकर नीचे उतार दिया। मेरा सामान नीचे उतार दिया। मैंने दूसरे डिब्बे में जाने से इंकार किया। गाड़ी चल दी। मैं वेटिंग रूम में जा बैठा। सामान रेलवालों ने कहीं रखवा दिया। जाड़े का मौसम



सिपाही ने हाथ पकड़ा और. निकाल दिया

था। ओवरकोट सामान में रह गया था। सामान मांगने की हिम्मत न पड़ी। कहीं फिर बेइज्जती न हो! जाड़े में सिकुड़ता और ठिठुरता रहा। कमरे में रोशनी न थी।

मैं सोचने लगा—"मेरा कर्त्तव्य क्या है? मुझे

अपने हकों के लिए लड़ना चाहिए या वापस लौट जाना चाहिए ? या मुकदमे का काम खत्म करके देश चला जाऊं ? मुकदमे को अधूरा छोड़कर भाग जाना कायरता होगी। मुझे जो तकलीफ मिली है वह तो ऊपरी तकलीफ है। वह तो गहराई में बैठे हुए रंग-द्वेष के रोग के लक्षण हैं। इस गंभीर रोग को मिटाने की शक्ति अपने अंदर हो तो उसका उपयोग मुझे करना चाहिए। ऐसा करने में जो संकट मुझपर आयें, उन्हें सहन करना चाहिए।" यह तय करके दूसरी गाड़ी से आगे जाने का निश्चय किया।

सुबह रेल के जनरल मैनेजर को तार द्वारा एक लंबी शिकायत लिख भेजी। दादा अब्दुल्ला को भी समाचार भेजे। जनरल मैनेजर ने स्टेशन-मास्टर को लिखा कि गांधी को सकुशल अपने मुकाम पर पहुंचा दो। अब्दुल्ला सेठ ने मेरित्सबर्ग के हिंदुस्तानी व्यापारियों को मुझसे मिलने और मेरा प्रबंध करने के लिए तार दिया। आगे दूसरे स्टेशनों पर भी ऐसे ही तार दिये। व्यापारी लोग स्टेशन पर मिलने आये। उन्होंने अपने पर होनेवाले अन्यायों का जिक्र किया और कहा कि आपपर जो कुछ बीती है, वह नई बात नहीं है। सारा दिन इन्हीं बातों को सुनने में गया। रात हुई, गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी।

ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

गाड़ी चार्ल्सटाउन सुबह पहुंचती थी। वहां से जोहांसबर्ग जाने को उन दिनों रेल नहीं थी। सिकरम से जाना पड़ता था। बीच में स्टैंडरटन में एक रात ठहरना पड़ता था। मेरे पास सिकरम का टिकट था, पर सिकरमवाले ने बहाना बनाया—"तुम्हारा टिकट रद्द हो गया है।" मैंने उचित उत्तर दिया। पर मैं तो कुली समझा जाता था। सिकरमवाले की नीयत थी कि मुझे गोरे यात्रियों के पास न बैठाना पड़े। वह चाहता था कि मैं बाहर सिकरमवाले के पास उसके दायें या बायें बैठूं। वहां सिकरम कंपनी का गोरा लीडर बैठता था। वह अंदर बैठा और मुझे हांकनेवाले की बगल में बैठाया। मैं समझ गया कि यह निरा अन्याय है, अपमान है। पर मैंने इसे पी जाना ही ठीक समझा। तकरार करने लगूं तो सिकरम चल दे और एक दिन खराब हो। इसलिए समझदारी से काम लेकर बाहर बैठ गया। मन में तो बहुत दुखी था।

कोई तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुंची। अब उस गोरे लीडर को बाहर बैठने की इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना था या ठंडी हवा खानी थी। सो वह हांकनेवाले की बगल में बैठा और एक मैली-सी

बोरी लेकर पैर रखने की पटरी पर बिछा दी और बोला—"साथी, तुम यहां बैठो।" यह अपमान सहने में मैं असमर्थ था। अतः मैंने डरते-डरते कहा, "मेरी जगह अंदर बैठने की थी, पर तुमने मुझे यहां बैठाया और तुम अंदर बैठे। अब तुम्हें सिगरेट पीना है। इससे तुम अपने पैरों के पास बिठाना चाहते हो। मैं अंदर जाने को तैयार हूं, पर तुम्हारे पैरों के पास बैठने को तैयार नहीं।"

मैं मुश्किल से इतना कह पाया था कि मुझपर तमाचों की वर्षा होने लगी। वह गोरा मुझे बांह पकड़कर नीचे ढकेलने लगा। कोचबक्स के पास ही पीतल के सींखचे थे, मैं उनसे लिपट गया और कलाई उखड़ जाय तो भी सींखचे न छोड़ने की ठान ली। मेरे ऊपर जो गुजर रही थी, उसे सिकरम के अंदर बैठे यात्री देख रहे थे। वह गोरा मुझे मार रहा था, गालियां दे रहा था, हाथ पकड़कर खींच रहा था और मैं चुपचाप सब सह रहा था। वह बलवान था और मैं बलहीन। यात्रियों में से कुछको दया आई। उनमें से एक बोल उठा :

"अरे भाई, उस बेचारे को वहां बैठा रहने दो। बिला वजह क्यों मारते हो? उसकी बात तो ठीक है। वहां नहीं तो उसे हमारे पास अंदर बैठने दो।"

गोरा बोला, "हर्गिज़ नहीं।" पर वह ज़रा सिटपिटा गया। मारना बंद कर दिया और मेरी बांह भी छोड़ दी। हां, गालियां दो-चार और दीं। एक हबशी नौकर दूसरी तरफ़ बैठा था। उसे पांव के पास बैठाया और गोरा बाहर बैठा। मैं अपनी जगह बैठा। यात्री अंदर बैठे। सीटी बजी और सिकरम चल दी। मेरी छाती धड़क रही थी। मुकाम पर जिंदा पहुंच सकूंगा या नहीं, इसमें शक हो रहा था। मैं ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैंडरटन पहुंचे। कुछ हिंदुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। जरा ढाढ़स बंधा। नीचे उतरते ही भारतीयों ने बताया, "दादा अब्दुल्ला का तार मिला है। हम ईसा सेठ की दुकान पर ले चलने को आये हैं।" ईसा सेठ की दुकान पर गया। सेठ और गुमाश्तों ने चारों ओर से घेर लिया। अपने ऊपर जो बीती, वह सुनाई। वे बहुत दुखी हुए। अपने अनुभवों की कहानी सुनाकर मुझे आश्वासन दिया।

मैंने सिकरम कंपनी के एजेंट को पत्र लिखा। गोरे के व्यवहार की शिकायत की। आगे की यात्रा में ठीक जगह मिलेगी, इसका आश्वासन मांगा। एजेंट का जवाब आया। सवेरे ईसा सेठ के आदमी सिकरम पर लिवा गये। ठीक जगह मिल गई और बिना किसी

हैरानी के उस रात को जोहांसवर्ग पहुंचे।

जोहांसवर्ग वड़ा शहर है। वहां भी अब्दुल्ला सेठ ने तार दे दिये थे। सेठ मुहम्मद कासिम का आदमी सिकरम पर लेने आया था, पर न मैंने उसे देखा, न उसने मुझे पहचाना। ग्रांड नेशनल होटल पहुंचा। मैनेजर से जगह मांगी। उसने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा और शिष्टतापूर्वक कहा, "मुझे खेद है, सब कमरे भर गये हैं।" और विदा किया। गाड़ीवाले से सेठ कासिम कमरुद्दीन की दुकान पर ले चलने को कहा। वहां सेठ अब्दुल गनी मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने मेरी आवभगत की। अपनी होटल की वीती उन्हें सुनाई। वह ठहाका मारकर हंसे—"भला वे हमें होटल में ठहरने देंगे!"

"क्यों नहीं?"

"यह तो आप थोड़े दिन रहने पर जान जायंगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं। हमें पैसा कमाना है, इसलिए बहुत सारे अपमान सहकर भी यहां पड़े हैं।"

और उन्होंने ट्रांसवालमें हिंदुस्तानियों को मिलने-वाले कष्टों का इतिहास कह सुनाया। फिर वोले, "यह मुल्क आप सरीखों के लिए नहीं है। देखिए, कल आपको प्रिटोरिया जाना है। यहां से आपको तीसरे

दर्जे में ही जगह मिलेगी। हम लोगों को पहले या दूसरे दर्जे का टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने रेल की नियमावली मांगी और देखकर कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊंगा।" मैंने स्टेशन-मास्टर को पत्र लिखा और पत्र के उत्तर की राह न देखकर फ्राककोट, नेकटाई वगैरा डाटकर स्टेशन पहुंचा। स्टेशन-मास्टर के सामने गिन्नी रखकर पहले दर्जे का टिकट मांगा।

स्टेशन-मास्टर हंसा। वह अंग्रेज नहीं था। हालैंड का रहनेवाला था। बोला, "मेरी आपके साथ हमदर्दी है। मैं आपको टिकट देना चाहता हूं। पर एक शर्त है। रास्ते में गार्ड आपको उतार दे तो आप मुझे हैरान न करेंगे। मैं चाहता हूं कि आपकी यात्रा सकुशल पूरी हो।" यह कहकर उसने टिकट दे दिया।

मैं पहले दर्जे के डिब्बे में बैठा। ट्रेन चली। रास्ते में गार्ड टिकट जांचने आया। मुझे देखते ही झल्ला उठा—"चलो, तीसरे दर्जे में जाओ।"

मैंने पहले दर्जे का टिकट दिखाया, पर वह बोला, "कोई बात नहीं, जाओ तीसरे दर्जे में।"

इसी डिब्बे में एक अंग्रेज मुसाफिर था। उसने गार्ड को फटकारा कि क्यों इस भले आदमी को तंग करते हो? देखते नहीं कि उसके पास पहले दर्जे का

टिकट है ? मुझे उसके बैठने से कोई तकलीफ नहीं है। और मेरी तरफ देखकर बोला—"आप इत्मीनान से बैठे रहें।"

गार्ड बड़बड़ाया और चला गया।

रात को साढ़े आठ बजे गाड़ी प्रिटोरिया पहुंची। दादा अब्दुल्ला के वकील की ओर से किसी आदमी के मिलने की आशा मैं रखता था। पर उस दिन रविवार था। इस कारण वकील महोदय किसीको न भेज सके।

स्टेशन बहुत छोटा था। धीमी-धीमी बत्तियां जल रही थीं। मुसाफिर अधिक नहीं थे। स्टेशन खाली होने पर मैंने टिकट कलक्टर को टिकट देकर पूछना शुरू किया, पर मैंने देखा कि वह कुछ मदद नहीं कर सकेगा।

किसी प्रकार एक अमरीकन होटल में जगह मिली। दूसरे दिन सवेरे वकील के यहां गया। उनका नाम था ए० डब्ल्यू० बेकर। वह मुझसे प्रेम से मिले। वह वकील के साथ-साथ पादरी भी थे। एक गरीब नानाबाई के यहां ३५ शिलिंग फी हफ्ता देकर रहने की व्यवस्था की।

शाम को ब्यालू करके अपने कमरे में लेटा और विचार-प्रवाह में बहने लगा। मैंने देखा कि तुरंत ही मेरे लिए कोई काम नहीं है। यह बात मैंने दादा अब्दुल्ला को लिख दी।

: १६ :

हिंदुस्तानियों से परिचय

नेटाल में जो स्थान दादा अब्दुल्ला का था वही स्थान प्रिटोरिया में सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मद का था। उनके बिना कोई सार्वजनिक काम वहां न चल सकता था। उनसे मैंने पहले हफ्ते में ही जान-पहचान करली। मैंने उनसे कहा कि मैं प्रिटोरिया के हिंदुस्तानियों से मिलना चाहता हूं और इस सारे काम में आपकी मदद चाहता हूं। उन्होंने खुशी से यह मदद देना मंजूर कर लिया।

मेरा पहला काम सब भारतवासियों की सभा करके उनके सामने यहां की हालत को रखना था। सभा हुई। यह मेरे जीवन का पहला भाषण माना जा सकता है। मैंने ठीक तैयारी की थी। मुझे सत्य पर बोलना था। व्यापारियों के मुंह सुनता आ रहा था कि व्यापार में सचाई नहीं चल सकती। यह कहने वाले आज भी पड़े हैं। ऐसे लोग व्यापार को व्यवहार और सत्य को धर्म कहते हैं और कहते हैं कि व्यवहार एक चीज है, धर्म दूसरी। उनकी धारणा है कि व्यवहार में शुद्ध सत्य नहीं चल सकता। इस मत का मैंने अपने भाषण में जोरदार खंडन किया। व्यापारियों

को उनके दोहरे फर्ज की याद दिलाई। परदेश आकर उनकी जिम्मेदारी देश की अपेक्षा ज्यादा होगई है, क्योंकि मुट्ठीभर हिंदुस्तानियों के आचरण से हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों के चरित्र की नाप-तौल की जाती है।

अंग्रेजों के रहन-सहन की तुलना में हमारा रहन-सहन गंदा है, यह मैं समझ चुका था। हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, मदरासी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी, कच्छी, सूरती आदि भेदों को भुला देने पर जोर दिया और अंत में सलाह दी कि हिंदुस्तानियों के कष्ट-कठिनाइयों का इलाज अफसरों से मिलकर आवेदन-पत्र आदि भेजकर करना चाहिए और यह भी कहा कि इस काम में जितना समय मुझे मिलेगा, उतना समय बिना किसी वेतन-पुरस्कार के दूंगा।

सभा पर मेरी बातों का ठीक असर पड़ा।

सभा के फल से मुझे संतोष हुआ। हर महीने या हर हफ्ते ऐसी सभा करने का निश्चय हुआ। सभा कमोबेश नियमित रूप से होती थी और विचार-विनिमय हुआ करता था। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरिया में शायद ही कोई हिंदुस्तानी रहा होगा जिसे मैं पहचानने नहीं लगा या जिसकी स्थिति से मैं वाकिफ न हो गया होऊं। प्रिटोरिया में रहनेवाले ब्रिटिश एजेंट से मिला। उन्होंने कहा कि मुझसे जो मदद हो सकेगी,

देता रहूंगा। जब जरूरत हो, मिल लिया करें।

रेलवे के अफसरों से पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनको बताया कि उनके ही कायदों के अनुसार हिंदुस्तानियों को यात्रा की मनाही नहीं हो सकती। जवाब आया कि जो हिंदुस्तानी अच्छे कपड़े पहने होंगे, उन्हें ऊंचे दर्जे के टिकट दिये जायंगे। इस प्रकार ट्रांसवाल और आरेंज फ्रीस्टेट के हिंदुस्तानियों की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का गहरा अध्ययन मैं कर पाया।

आरेंज फ्रीस्टेट में तो एक कानून बनाकर १८८८ में हिंदुस्तानियों के सब हक छीन लिये गए थे। वहां उन्हें सिर्फ होटल के बैरे या ऐसा ही कोई और छोटा धंधा करते हुए पड़े रहने की इजाजत रह गई थी।

ट्रांसवाल में १८८५ में कड़ा कानून बना। १८८६ में कुछ सुधार हुआ। उसके अनुसार हरेक हिंदुस्तानी के लिए फीस के रूप में ३ पौंड जमा करने का कानून बना। उन्हें जमीन पर मालिकाना हक नहीं मिला। चुनाव में मत देने का अधिकार भी उन्हें नहीं था। यह कानून एशिया-वासियों के लिए था। लेकिन जो कानून काले रंग के लोगों पर लागू होते थे, वे एशिया-वासियों पर भी लागू होते थे, उसके अनुसार हिंदुस्तानी फुटपाथ पर अधिकारपूर्वक नहीं चल सकते थे। रात के ९ बजे

के बाद परवाने के बिना बाहर न निकल पाते थे।

इन दोनों नियमों का असर मुझे अपने ऊपर ही जांचना पड़ा। मैं अक्सर मि० कोट्स के साथ रात में घूमने निकला करता था। घर पहुंचते १० भी बज जाते थे। अतः मुझे पुलिस पकड़ ले तो? सरकारी वकील डा० क्राउज ने मुझे एक ऐसा पत्र दिया कि मैं जब और जहां चाहूं, घूमूं, पुलिस को उसमें दखल नहीं देना चाहिए। घूमते हुए यह पत्र मैं सदा अपने पास रखता। उससे कभी काम नहीं लेना पड़ा, पर इसे केवल संयोग ही समझना चाहिए।

पटरी पर चलने का प्रश्न मेरे लिए कुछ गंभीर नतीजेवाला साबित हुआ। मैं सदा प्रेसिडेंट स्ट्रीट से होकर एक खुले मैदान में घूमने जाया करता था। इस मुहल्ले में प्रेसिडेंट क्रूगर का मकान था। यह मकान आडंबर से बिल्कुल रहित था। आसपास के दूसरे घरों से इसमें कोई अंतर न जान पड़ता था। प्रेसिडेंट की सादगी मशहूर थी। वह किसी अफसर का मकान है, इसका पता उसके सामने एक संतरी के टहलते रहने से ही चलता था। मैं प्रायः सदा ही उस सिपाही के बिल्कुल पास से होकर गुजरा करता था, पर वह मुझे कुछ न कहता था। सिपाही समय-समय पर बदला करते थे। एक बार एक सिपाही ने बिना चेताए और बिना

पटरी पर से उतर जाने को कहे, मुझे ठोकर मारी और नीचे उतार दिया। मैं हैरान हुआ। इसी बीच मि०



सिपाही ने ठोकर मारी

कोट्स उधर से गुजर रहे थे। उन्होंने उस सिपाही को भला-बुरा कहा। सिपाही डच था। उसने मुझसे माफी मांगी। पर मैंने वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाही को इस घटना का क्या पता होगा ? मैं जान-बूझकर लात खाने क्यों जाऊं ?

इस घटना ने वहां रहनेवाले भारतीयों के प्रति मेरी भावना को अधिक तीव्र कर दिया। मैंने देखा कि स्वाभिमान की रक्षा चाहनेवाले हिंदुस्तानियों के लिए दक्षिण अफ्रीका योग्य मुल्क नहीं है। यह स्थिति किस तरह बदली जा सकती है, इस चिंता में मेरा मन अधिकाधिक उलझने लगा। पर अभी तो मेरा मुख्य कर्तव्य दादा अब्दुल्ला का मुकदमा संभालना था।

: १७ :

मुकदमे का निपटारा

प्रिटोरिया में मुझे जो एक साल मिला, वह मेरे जीवन में अमूल्य था। सार्वजनिक काम करने की अपनी शक्ति का कुछ अंदाज मुझे यहां हुआ। उसे सीखने का अवसर भी मिला। धार्मिक भावना अपने-आप तीव्र होने लगी। कह सकता हूं कि सच्ची वकालत भी यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर जो सीखता है, वह मैं नहीं सीख पाया। यहां मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि मैं वकालत के काम में एकबारगी नालायक न रहूंगा। वकील बनने की कुंजी भी यहीं मेरे हाथ लगी।

दादा अब्दुल्ला का मुकदमा छोटा न था। ४० हजार पौंड अर्थात् ६ लाख रुपये का दावा था। दोनों

पक्ष अच्छे-अच्छे सालिसिटर-बैरिस्टर ले गये थे। इसलिए दोनों के कामों का अनुभव प्राप्त करने का मुझे बढ़िया मौका मिला।

मैंने मुकदमे में पूरा मन लगाया। उसमें डूब गया। मैं कसकर मेहनत करता था। फल यह हुआ कि मुकदमे के तथ्यों पर मेरा इतना अधिकार होगया, जितना वादी-प्रतिवादी को भी शायद न था। कारण यह था कि मेरे पास दोनों के कागज-पत्र होते थे। मुझे स्वर्गीय मि० पिकट के शब्द याद आये। उनका कहना था कि "तथ्य तीन-चौथाई कानून है।"

दादा अब्दुल्ला के मुकदमे की तैयारी करते समय मैं तथ्य की महिमा इतनी है, यह न जान सका था। तथ्य का अर्थ है सच्ची बात। सच्चाई का पल्ला पकड़े रहने से कानून अपने-आप हमारी मदद को आ जाता है और अंत में मैंने देख लिया कि मेरे मुवक्किल का मुकदमा बहुत मजबूत है। कानून को उसकी मदद करनी ही चाहिए।

पर मैंने यह भी देखा कि मुकदमा लड़ने में दोनों पक्ष, जो एक-दूसरे के रिश्तेदार हैं और एक ही शहर के रहनेवाले हैं, बरबाद हो जायंगे। मुकदमे के अंत का किसीको पता नहीं। कचहरी में तो वह चाहे जितना लंबा किया जा सकता है। उसके लंबा होने में दोनों

में से एक को भी फायदा न होगा। इससे दोनों पक्ष चाहते थे कि मुकदमा जल्दी खत्म हो।

मैंने तैयव सेठ से अनुरोध किया। आपस में झगड़ा निवटा लेने की सलाह दी। उन्हें अपने वकील से मिलने को कहा। किसी ऐसे आदमी को पंच चुन लें, जिसपर दोनों का विश्वास हो तो मामला झट-पट निवट जाय। मुझे अपना धर्म दोनों रिश्तेदारों में मेल करा देना ही जान पड़ा। समझौता करने के लिए मैंने जी-जान से कोशिश की। तैयव सेठ मान गये। अंत में पंच चुना गया। मुकदमा चला। दादा अब्दुल्ला जीत गये।

पर इतने से मुझे संतोष न हुआ। पंच-फैसले की तामील हो तो तैयव सेठ इतना रुपया एकबारगी दे ही नहीं सकते थे। एक ही रास्ता था कि दादा अब्दुल्ला उन्हें लंबी मुहलत दे दें। उन्होंने उदारता दिखलाई और खूब लंबी मुद्दत दे दी। दोनों पक्षों को खुशी हुई। दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोष की सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-स्वभाव का उज्ज्वल पक्ष ढूंढ़ निकालना सीखा, मनुष्य के दिल में पैठना सीखा। मुझे जान पड़ा कि वकील का कर्तव्य फरीकैन के बीच खुदी हुई खाई को भरना है।

: १८ :

ईश्वर ने नया बीज बोया

मुकदमा खत्म होते ही प्रिटोरिया में मेरे रहने का प्रयोजन न रहा। मैं डरबन गया। वहां पहुंचकर हिंदुस्तान लौटने की तैयारी की। दादा अब्दुल्ला ने मेरी विदाई के लिए दावत का जलसा किया।

उसमें किसीने मुझे 'नेटाल मर्करी' अखबार की प्रति लाकर दी। उसमें नेटाल धारा-सभा की कार्रवाई की संक्षिप्त रिपोर्ट थी, जिसमें कुछ सतरें भारतीय मताधिकार के सिलसिले में थीं। नेटाल-सरकार ऐसा बिल पेश करना चाहती थी, जिससे हिंदुस्तानियों के मताधिकार छिनते थे। योंही उनके अधिकार बहुत कम थे, फिर भी जो-कुछ थे उन्हें छीन लेने की यह शुरुआत थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठ से इस बारे में पूछा। उन्होंने कहा, "ऐसी बातों का हमें क्या पता ?"

मैंने और चर्चा की और बिल का मतलब वहां उपस्थित लोगों को समझाया। अब्दुल्ला सेठ ने कहा, "आप इस मत का जितना मूल्य आंकते हैं, उतना हम नहीं आंकते। पर आप जो कहते हैं वह हम अब समझ सकते हैं। खैर, अब आप क्या सलाह देते हैं ?"

उपस्थित मेहमानों में से एक बोले :

"मैं आपको सच-सच बता दूं ? आप इस स्टीमर से न जायं और एकाध महीना यहीं रुक जायं तो जिस



दक्षिण अफ्रीका से रुकने के लिए गांधीजी से आग्रह

तरह आप कहें उस तरह हम लड़ सकते हैं।"

दूसरे भी बोल उठे :

"बिल्कुल ठीक है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीभाई को रोक लीजिए।

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद आदमी थे। बोले :

"अब इन्हें रोकने का अधिकार मुझे नहीं है। या जितना मुझे है उतना ही आप लोगों को भी है। आप

जो कहते हैं, सो ठीक है। हम सब मिलकर इनको रोकें। यह तो बैरिस्टर हैं। इनकी फीस का क्या होगा ?"

फीस की बात सुनकर मुझे कष्ट हुआ। मैंने बीच में ही टोककर कहा :

"अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीस की बात तो उठनी ही न चाहिए। सार्वजनिक सेवा में फीस कैसी ! मैं रुकूं तो एक सेवक की तरह रुक सकता हूं। आप सब समझते हो कि सब मेहनत करेंगे तो मैं एक महीना रुक जाने को तैयार हूं। यह सही है कि आपको मुझे कुछ देना नहीं, फिर भी ऐसे काम बिना पैसे के तो हो ही नहीं सकते। हमें तार देने पड़ेंगे, कुछ छपाना पड़ेगा। जहां-तहां जाना-आना पड़ेगा। उसमें गाड़ी-भाड़ा लगेगा। कभी-कभी स्थानीय वकीलों से सलाह भी लेनी पड़ सकती है। आदि-आदि।"

बहुत-सी आवाजें एक साथ आईं, "खुदा की मेहरबानी है। पैसे तो मिल ही जायंगे। आदमी भी हैं। आप रहना कबूल कर लें तो और सब ठीक हो जायगा।"

विदाई का जलसा कार्यकारिणी समिति में बदल गया। खाना-पीना जल्दी खत्म करके घर पहुंचा। आंदोलन की रूपरेखा मन में बनाई।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण अफ्रीका में मेरे स्थायी निवास की नींव डाली और आत्म-सम्मान की लड़ाई का बीज धरती में बोया गया।

●